आलेख

धर्म, युद्ध और नारी

नीरजा माधव

वैश्वीकरण का ध्वज हाथ में लिये अपसंस्कृति और विघटन के पाँवों से चलती हुई कोई अमूर्त शक्ति कब हमारे पूरे समाज का नेतृत्व करने लगी, हमें आभास ही नहीं। आज एक बड़ी जनसंख्या उसका अनुसरण करती हुई किसी ऐसी सुरंग में घुसती जा रही है जिसका कोई ओर-छोर नहीं दिखाई देता। उसके पीछे-पीछे एक वर्ग विवश-सा अपने बोझिल कदमों को घसीटता हुआ चलने को बाध्य है, जिसमें अधिकतर आज के बूढ़े-बुजुर्ग तथा महिलाएँ हैं।

ये लोग दरिद्र सुदामा की तरह नैतिक मूल्यों की गठरी बगल में दबाए इस उम्मीद में साथ चल रहे हैं कि न जाने कब आयातित मूल्यों के भँवर में चक्कर खाकर गिरे अर्धमूर्च्छित लोगों को यह संजीवनी सुँघाने के काम आ जाए। वे सचेष्ट हो जाएँ और अपने जीवन की ओर लौट आएँ। सुदामा के संकोच और महावीर की अपराजेय शक्ति के साथ मूल्यों को कंधे पर उठाए समाज के हाशिए पर रखा एक वर्ग—बूढ़ों का, स्त्रियों का।

विश्ववाद के नाम पर साहित्य, कला, संस्कृति का पाश्चात्यीकरण किसी सुनियोजित षड्यंत्र का संकेत-सा प्रतीत होता है। आदिकाल से ही विश्व के सामने 'वसुधैव कुटुंबकम्' जैसे उदात्त मानवीय मूल्य का उदाहरण प्रस्तुत करनेवाले देश को अचानक बीसवीं सदी का अंत होते-होते 'विश्ववाद' जैसे एक पृथक् नारे के पीछे चलने की क्या आवश्यकता आ पड़ी? यह एक जलता हुआ प्रश्न है। गौरवशाली संस्कृति और मूल्यों से कंगाल यायावरी देशों के लिए विश्ववाद का परचम जीने-खाने का नवीन साधन है; परंतु भारत जैसे गरिमामयी संस्कृतिवाले देश के लिए यह एक आसन्न विपत्ति है। इसके फेर में हमारा साहित्य मर रहा है, कला और संस्कृति मर रही है, पूरा राष्ट्र मर रहा है तथा हमारा अस्तित्व वैश्वीकरण में विलीन होने के कगार पर खड़ा है। पिछड़े घोषित हो रहे हैं वे लोग, जो इस स्थिति पर चिंतित दीख रहे हैं। पुरातनपंथी हैं वे लोग, जो संवेदनाओं को जीवित रखने का प्रयास कर रहे हैं। पागल हैं वे लोग, जो मरते हुए मूल्यों की पुन:स्थापना की दुहाई देते हुए चीख-चिल्ला रहे हैं। लेखनी से एक हठी प्रश्न बार-बार आकर चिपक जाता है—आखिर धर्म के पक्ष में चिंता क्यों? युद्ध का संत्रास तुम्हारे हिस्से ही क्यों? सदियों से हाशिए पर बैठाई गई नारी! मूल्यों की दुहाई कैसी? यह लेखनी माधव की मुरली तो नहीं, जिसकी टेर सुनते ही विश्व यारी में गलबाँही दिए वर्तमान यायावरी प्रवृत्ति रूपी गउएँ झुंड-की-झुंड भागतीं, दौड़तीं, रँभातीं आकर मुरलीवाले को घेर खड़ी हो जाएँगी। कुछ क्षण मधुर तान पर सिर हिलातीं, गले की रुन-झुन घंटियों से ताल मिलातीं वापस चल पड़ेंगी घर की ओर। पीछे-पीछे उन्हें हाँकते, उनकी पगधूलि से धूसरित कान्हा, आपादमस्तक विजय-रज लपेटे। फिर जब लेखनी माधव नहीं, मुरली नहीं तो क्यों गुहार लगा रही है लौट आने की? और किससे? क्या उनसे, जो इस चौखट को छोड़कर जा रहे हैं या फिर उनसे, जो इसकी पहरेदारी कर रहे हैं? अंतर उद्वेलित होता है और उत्तर आता है—सभी से। उनसे भी जो धर्मांतरण, मतांतरण द्वारा प्रसार-लोलुप हैं और मूर्ति-स्थापना, पूजा, प्रार्थना, इबादत के नाम पर धर्म को लहूलुहान करने की साधना में तल्लीन हैं; उनसे भी जो चौहत्तर मन जनेऊ तौलवाने के बाद भी अक्षुण्ण धर्म के मद में चूर संयत भाव से राग दरबारी अलापते निष्क्रिय जीवन जीने की चेष्टा कर रहे हैं। बारूद के ढेर पर बैठा दिया गया है धर्मप्राण भारत को। हल की मूठ छुड़ा राइफलों की बट पकड़ा दी गई है भोले-भाले हाथों में। दो जून की रोटी नहीं, कपड़ा नहीं, पर न जाने किन रास्तों से होकर छप्परों में घुसी जा रही हैं अत्याधुनिक राइफलें और बंदूकें, जो निगल जा रही हैं रोटियाँ और फाड़ दे रही हैं कपड़े। निर्वस्त्र हो जा रही है घर की लाज। पथ चाहे धर्मांतरण का हो या धार्मिक कट्टरता का—दोनों ही दशाओं में इसका दंश असहनीय होता है और तभी धर्म अपने वास्तविक जीवन-मूल्यों से च्युत होकर विकृत रूप धारण करता है। और जब ऐसे विकृत धर्म को मनुष्य धारण करता है तो निस्संदेह वह भी विकृत हो उठता है। धर्म के सहज और उदात्त भाव से बिलकुल दूर; उसके आडंबरों, कट्टरता और प्रसार-लोलुपता के साथ कदम-से-कदम मिलाता, स्वार्थ भरी खीसें निपोरता, विरोध होते ही धर्म के मूल तत्त्व को एक किनारे ढकेलता खड़ा हो जाता

है आक्रामकता के साथ मुट्ठियाँ भींचे। धर्म को स्वयं के साथ पतित करता और इस सीमा तक पतित करता है कि पशु तक उसकी नादानियों को समझ बैठने का विवेक जुटा लेता है; क्योंकि पशु-जगत् का भी धर्म के प्रति एक सहिष्णु दृष्टिकोण है। वे अपने सहज धर्म का ही पालन करते हैं, किसी भी अतिवाद या प्रसार भावना से दूर। घोड़े नहीं चाहते कि हाथी भी घोड़े हो जाएँ या ऊँट कुत्ते हो जाएँ। धर्म को लेकर उनके बीच कोई तनाव नहीं, कोई युद्ध, महायुद्ध या रक्तपात नहीं। धर्म शांति और अनुशासन देता है समाज को, परंतु उसका दूसरा स्वरूप युद्ध की विभीषिका भी खड़ी करता है। कोई भी धर्म तभी तक सच्चा है जब तक उसके अनुयायी ईमानदारी और निष्ठा से उसका पालन करते हैं—किसी भी अतिवाद या प्रसार से दूर; क्योंकि सभी धर्मों का लक्ष्य वही एक ऊँचाई है जिसपर चढ़ने के लिए हर व्यक्ति अपने पास की भूमि पर ही चलना प्रारंभ करता है। दूसरे के पाँव के नीचे की जमीन पर बलात् अपना पाँव नहीं रख सकता।

एक छोटी सी सत्य घटना का उल्लेख करना समीचीन होगा; हालाँकि कुछ लोग इसे दुष्प्रचार तो कुछ इसे दुराग्रह मान सकते हैं, पर इस घटना का उल्लेख मात्र धार्मिक प्रसार की अतिवादी प्रवृत्ति को दरशाने के लिए ही कर रही हूँ, किसी को धार्मिक ठेस पहुँचाने के लिए नहीं। एक दिन मैं दूरदर्शन केंद्र, वाराणसी में अपने कक्ष में बैठी थी। एक सम्मानित वरिष्ठ फादर आए। स्वागत की औपचारिकता स्वीकार करने के बाद उन्होंने शुरू किया, ''हम लोग भोजपुरी बोली में गाए जानेवाले पारंपरिक गीतों के पुनरुत्थान का कार्य कर रहे हैं आजकल। क्योंकि देखा जा रहा है कि आजकल विवाह आदि के अवसरों पर पारंपरिक लोकगीत न गाकर फिल्मी गानों और कैसेटों का प्रचार हो गया है। इस ओर किसी का ध्यान नहीं जा रहा है। इन पारंपरिक गीतों को संरक्षित करके एक पुस्तकाकार दे रहे हैं हम। और गाँव-गाँव में सस्ते दामों पर उपलब्ध कराएँगे, ताकि ये गीत मिटने न पाएँ।'' मैं उद्विग्न हो उठी। आकाशवाणी और दूरदर्शन के क्षेत्रीय केंद्र अपनी परंपरा तथा संस्कृति को संवर्द्धित और संरक्षित करने का दायित्व आज तक पूरी निष्ठा के साथ करते आ रहे हैं। शायद फादर इस तथ्य से अनभिज्ञ होंगे। फिर भी मैंने उनके इस कदम की औपचारिक प्रशंसा की। उनकी आगे की जिज्ञासा मुखर हुई—''इस क्षेत्र में गाए जानेवाले अधिकतर लोकगीतों का संग्रह करके मैंने कंप्यूटर से प्रिंटआउट निकलवा लिया है। आप इस क्षेत्र से जुड़ी हुई हैं और मीडिया में हैं, हमारी मदद करें। इन्हें देख लें और जो गीत छूट गए हों, उनके बारे में हमें बता दें तो आभारी रहूँगा।'' मैं फादर की विनम्रता से प्रभावित हुई। अपने विभाग द्वारा इस क्षेत्र में किए जा रहे दायित्व-निर्वाह के बारे में उनको बताते हुए मैं गीतों की पांडुलिपि उनसे लेकर पढ़ने लगी थी। चौंकी! हमारे अधिकतर लोकगीतों में पात्र राम-सीता, कृष्ण-राधा या ठाकुर (विष्णु)-लक्ष्मी होते हैं। विवाह भी होता है तो राम और सीता का। पिता जनक और दशरथ ही आज तक हैं। किसी भी कान्हा के जन्म पर बधाई आज भी नंद के द्वारे ही बजती है। यज्ञ-अनुष्ठान में ठाकुर बाबा के पधारने की कल्पना मात्र से 'अँचरन खोरिया बहोरने' (आँचल से मार्ग साफ करने) की बात होती है। प्रत्येक नव-दंपती में लक्ष्मी-विष्णु, राम-सीता या शिव-शक्ति के दर्शन होते हैं हमें। पर फादर द्वारा संकलित सभी लोकगीतों के ये चिर-नवीन पात्र प्रभु, मरियम और ईसू में परिवर्तित हो गए थे। मन-ही-मन कुछ क्षुब्ध, कुछ चिंतित हुई उनके इस व्यामोह पर। इस तरह की लिप्सा क्यों? सभी धर्म ससीम-विश्वास से असीम को जानने का प्रयास मात्र हैं। जो भी धर्म स्वयं को परम अथवा अंतिम मानना चाहता है वह नैतिक आत्मविरोध का दोषी होता है। हमें दूसरों के प्रति ऐसा कुछ नहीं करना चाहिए जो यदि हमारे प्रति किया जाए तो हमें अप्रिय लगे। यही धर्म का सार है, शेष सारा बरताव तो स्वार्थपूर्ण इच्छाओं से प्रेरित होता है—

हमारे अधिकतर लोकगीतों में पात्र राम-सीता, कृष्ण-राधा या ठाकुर (विष्णु)-लक्ष्मी होते हैं। विवाह भी होता है तो राम और सीता का। पिता जनक और दशरथ ही आज तक हैं। किसी भी कान्हा के जन्म पर बधाई आज भी नंद के द्वारे ही बजती है। प्रत्येक नव-दंपती में लक्ष्मी-विष्णु, राम-सीता या शिव-शक्ति के दर्शन होते हैं हमें। पर फादर द्वारा संकलित सभी लोकगीतों के ये चिर-नवीन पात्र प्रभु, मरियम और ईसू में परिवर्तित हो गए थे। इस तरह की लिप्सा क्यों?

न तत् परस्य समादध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः।
एष सामासिको धर्मः कामादन्यः प्रवर्तते॥

हिंदू धर्म के चार मुख्य स्रोत माने जाते हैं—(१) श्रुति या वेद, (२) स्मृति और स्मृति को जाननेवालों का आचरण, (३) धर्मनिष्ठ व्यक्तियों का व्यवहार और (४) व्यक्ति का अपना अंतःकरण।

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनां आत्मनस्तुष्टिरेव च॥

उपर्युक्त में प्रथम दो तो केवल हिंदू धर्म से संबंधित माने जा सकते हैं, परंतु तीसरा और चौथा स्रोत हर काल के, हर धर्म के लिए एक आवश्यक तत्त्व है जिसके अभाव में भड़कते हैं धार्मिक उन्माद और युद्ध। 'छांदोग्य उपनिषद्' में पिता न्यग्रोध (वट-वृक्ष) वृक्ष के उदाहरण से यथार्थ (सत्) के सक्रिय स्वरूप को स्पष्ट करता है—

'वहाँ से न्यग्रोध वृक्ष का फल ले आओ।'

'यह ले आया हूँ, तात।'

'इसे फाड़ दो।'

'फाड़ दिया, तात।'

'इसमें क्या देख पाते हो?'

'कुछ भी नहीं, तात।'

पिता ने कहा, 'वत्स, जिस सूक्ष्म तत्त्व को तुम इसमें नहीं देख पाते, उसी तत्त्व से यह विशाल न्यग्रोध वृक्ष खड़ा है।'

स्पष्ट है, वृक्ष का तत्त्व या सत् उस अदृश्य सक्रिय शक्ति में है जिसके कारण वृक्ष खड़ा है, बढ़ता है और जिसके अभाव में वह मुरझा जाएगा। धर्म की अवधारणा की गहराई में जब हम उतरते हैं तो उसी एक सत् के दर्शन सभी को होते हैं, जिनसे धर्म को प्रकाश और ऊँचाई मिलती है। एक ही सत् के आलोक से सभी धर्म प्रकाश ग्रहण करते हैं। अपने आस-पास के धर्मों पर बलात् अपना धर्म आरोपित करना स्वयं को उस प्रकाश-स्रोत से विमुख कर सांसारिक अँधेरे में लुढ़काने जैसा है। सदियों से इसी अँधेरे से बचाने का प्रयास करती रही है नारी, क्योंकि नारी के विशेष गुण हैं—दया, प्रेम, शांति, समर्पण और त्याग। जुलू शब्दकोश में पुरुष की परिभाषा देते हुए कहा गया है—'एक पशु, जिसका प्रशिक्षण नारी करती है।' यानी पाशविकता, हिंसा, क्रोध पुरुषों के लक्षण रहे हैं, जिसे स्त्री नियंत्रित कर सकती है अपने चारु गुणों से।

वैदिक काल से ही धर्म की अभिव्यक्ति यज्ञ के माध्यम से होती है और इस यज्ञ में पति-पत्नी दोनों के सम्मिलित होने की अनिवार्यता थी। स्त्रियों का उपनयन संस्कार होता था और वे संध्या-विधि भी संपन्न करती थीं। क्षत्रिय कन्याओं को युद्धाभ्यास और ब्राह्मण कन्याओं को वेदाभ्यास कराया जाता था। वाल्मीकि के आश्रम में आत्रेयी राम के पुत्र लव और कुश के साथ पढ़ा करती थी। भरहुत की मूर्तियों में अश्वारोही स्त्रियों की सेवा का चित्रण मिलता है। पतंजलि ने भाला चलानेवाली महिलाओं (शक्तिकी:) का वर्णन किया है। कौटिल्य ने महिला धनुर्धरों का भी उल्लेख किया है। यानी धर्म और युद्ध दोनों में स्त्री की भूमिका समान थी। पुरुषों का प्रभुत्व स्वाभाविक नहीं था और न ही चिरस्थायी। अनेक ऐसे युग रहे हैं जिसमें पुरुषों का प्रभुत्व उतना सुनिश्चित नहीं था जितना हम अज्ञानवश मान लेते हैं। नारी मूलत: पुरुष की शिक्षक होती है, तब भी जब वह शिशु होता है और तब भी जब वह वयस्क हो जाता है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में कहा गया है—'क्योंकि पिता फिर अपनी पत्नी से उत्पन्न होता है (जायते पुन:), इसीलिए वह 'जाया' कहलाती है। वह उसकी दूसरी माता है। समाज में युद्ध और शांति के बीच संतुलन का दायित्व स्त्री ने ही सँभाल रखा था। परंतु बीच में परिस्थितियाँ बदलीं। पाशविक और हिंसक प्रवृत्तियों का बोलबाला हुआ और स्त्री चुपचाप हाशिए पर आ गई। पुरुष वर्चस्ववाले समाज का स्वरूप निहारती। कई युद्धों, महायुद्धों की विभीषिका झेलते समाज का स्वरूप। परंतु धर्म और युद्ध केवल उसी सीमा तक उचित है जहाँ तक मानव-कल्याण उनका लक्ष्य है। पुलिस द्वारा समाज में शांति-स्थापना हेतु बलप्रयोग बुरा नहीं कहा जा सकता। बलप्रयोग को परिस्थितियों से अलग करके अच्छा या बुरा नहीं कह सकते। चाकू किसी चिकित्सक द्वारा रोगी के रोग को काटने में प्रयुक्त है अथवा लूटपाट की नीयत से किसी की जान लेने के लिए—दोनों में अंतर है। धर्म का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि हम कायर हो जाएँ। 'भगवद्गीता' में अर्जुन को 'स्वधर्म' की शिक्षा श्रीकृष्ण द्वारा दी गई है। एक योद्धा सेनापति ने बुद्ध से पूछा, 'क्या अपने घर-बार की रक्षा के लिए युद्ध करना बुरा है?' तो बुद्ध ने उत्तर दिया, 'जो दंड का पात्र है उसे दंड दिया ही जाना चाहिए।' तथागत की शिक्षा यह नहीं है कि जो लोग शांति बनाए रखने का कोई उपाय शेष न रहने पर धर्म के लिए युद्ध करते हैं, वे दोषी हैं।

हिंदू शास्त्र अहिंसा को सर्वोच्च कर्तव्य मानकर चलते हैं; परंतु ऐसे भी अवसरों के संकेत उनमें उल्लिखित हैं जहाँ हम अहिंसा के मार्ग से विचलित होते हैं और यह विचलन सामाजिक अनुशासन के लिए आवश्यक भी होता है। परंतु धीरे-धीरे युद्ध का स्वरूप भी बदला और युद्ध का लक्ष्य शांति-स्थापना न रहकर स्वयं में युद्ध ही लक्ष्य बन गया। एक उत्तेजनामय खेल, पूँजीपतियों का निहित स्वार्थ; जिसमें आक्रमण के लिए बर्बर अस्त्रों का प्रयोग होता है। समाज के उन वर्गों को यंत्रणा अधिक भुगतनी होती है जिनके कंधों पर इस युद्ध की कोई जिम्मेदारी नहीं होती है या वे इसके लिए थोड़ा भी उत्तरदायी नहीं होते हैं। स्त्रियों और बच्चों पर कत्लेआम का कहर टूट पड़ता है। अपने शत्रु के लिए घृणा और हिंसा लगातार राष्ट्रों को पाशविक बनाती जा रही है। चकमक पत्थर से बारूद तक और अब बारूद से विषैली गैसों एवं जैविक हथियारों तक बढ़ आई है पाशविकता। स्त्री ही इस क्रूरता और पशुतावाले व्यवहार को नियंत्रित कर सकती है। नारी हर स्वरूप में माँ है। वही रोक सकती है अपने योद्धा और दिग्भ्रमित संतानों को। अपने अंतर के चारु गुणों को अपनी संतानों में स्थानांतरित करके ही वह मानवता के विनाश को रोक सकती है। वही समझा सकती है कि धर्म आत्मानुशासन और आत्मोत्थान के लिए है, झूठे प्रचार-प्रसार के लिए नहीं।

□

कार्यक्रम अधिशासी,
दूरदर्शन, वाराणसी